|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 10: विभूतियोग

1/3 (श्लोक 1-11), शनिवार, 17 जनवरी 2026

विवेचक: गीता विशारद डॉ आशू जी गोयल

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/5kaswB18ElY

विभूति दर्शन- आत्म परिशोधन से दैवीय आभा तक

सुमधुर देशभक्ति गीत, श्री वल्लभाचार्य कृत मधुराष्टक, श्रीहनुमान चालीसा पाठ और प्रार्थना के पश्चात् दीप प्रज्वलन सम्पन्न हुआ।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
योगेशं सच्चिदानंदं ,वासुदेवं व्रजप्रियम्
धर्म संस्थापकमं वीरं ,कृष्णम् वंदे जगतगुरुम्
श्री गुरु चरण कमलेभ्यो नमः

इस शुभ वाणी और ऊर्जावान वातावरण के मध्य, श्रीमद्भगवद्गीता के दसवेँ अध्याय के पूर्वार्द्ध के पवित्र विवेचन सत्र का शुभारम्भ अत्यन्त मधुरता और आनन्द के साथ हुआ।

श्रीभगवान् की अतिशय महती कृपा से हम सब लोगों का ऐसा सद्भाग्य जागृत हुआ है कि इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल, सार्थक करने के लिए, इसके परमोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हम इस शुभ अवसर का लाभ प्राप्त कर रहे हैं। हम अपने इहलौकिक और पारलौकिक जीवन के कल्याण हेतु श्रीमद्भगवद्गीता के पठन-अध्ययन हेतु प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के गूढ़ अर्थों के परिशीलन एवं उसके दिव्य सूत्रों को आत्मसात् कर जीवन में चरितार्थ करने की दिशा में हम अग्रसर हुए हैं। यह हमारे पूर्व जन्मों के सुकृतों का प्रतिफल है, हमारे पूर्वजों के पुण्यों का प्रसाद है अथवा वर्तमान जीवन में किसी महापुरुष की महती अनुकम्पा का सुफल है कि हमारा ऐसा भाग्योदय हुआ और हम इस ईश्वरीय ज्ञान के निमित्त चुन लिए गए। अत्यन्त सावधानी एवं विनयपूर्वक यह निवेदन है कि हम सबके अन्तःकरण में यह अटूट विश्वास होना चाहिए कि हमने गीता जी का चयन नहीं किया है, अपितु इस महत कार्य हेतु हमारा चयन किया गया है। महापुरुषों ने बारम्बार उद्घोष किया है कि इस संसार में श्रीमद्भगवद्गीता के सदृश अन्य कोई द्वितीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

चतुर्थ स्तर पर जब हम इस दशम अध्याय का अनुचिन्तन करते हैं तो हमारे मन में यह भाव सुदृढ़ हो जाना चाहिए कि केवल विवेचन का श्रवण करना और उसे रुचिकर मानना ही पर्याप्त नहीं है; इतने मात्र से हमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। प्रत्येक विवेचन

से न्यूनतम एक बिन्दु विचार-पुष्प के रूप में हमारे पास होना चाहिए, जिसे हम आगामी एक सप्ताह तक अपने व्यावहारिक जीवन की दैनिक चर्या में सञ्चालित कर सकें।

हमें पूर्णतः सजग, सचेत एवं एकाग्र होकर उन शिक्षाओं का अनुगमन करना चाहिए तथा स्वयं के रूपान्तरण का पुरुषार्थ करना चाहिए। "यह मुझसे सम्भव नहीं" अथवा "मेरा स्वभाव ऐसा नहीं है" ऐसे कथन कहते हुए हमने वर्षों व्यतीत कर दिए, परन्तु यह सत्य नहीं था। श्रीभगवान् ने सत्रहवें अध्याय में प्रतिपादित किया है कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही बन जाता है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव स ॥ 17.3 ||

श्रीभगवान् ने मनुष्य को कर्म की स्वतन्त्रता और योग्यता प्रदान कर इस धरातल पर भेजा है। हमारा जीवन उस जल के सदृश है, जिसके विषय में कहा गया है-

पानी रे पानी तेरा रङ्ग कैसा, जिसमें मिल जाए उस जैसा

जल का अपना कोई निजी वर्ण नहीं होता; उसे लाल पात्र में रखने पर वह लाल, नील वर्ण की द्रोणी (बाल्टी) में रखने पर नीला और हरित पात्र में रखने पर हरा ही दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य का जीवन भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है; वह जैसी श्रद्धा स्वयं पर आरोपित करता है, वैसा ही बन जाता है, अतः श्रद्धा का निर्माण कर और सङ्कल्प को सुदृढ़ बनाकर हम अपनी आदतों, अपने स्वभाव, अपनी रुचियों तथा जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित कर सकते हैं। यहाँ तक कि आने वाली परिस्थितियों पर हमारी प्रतिक्रियाओं को भी बदला जा सकता है।

हम सदैव वैसे ही रहेंगे, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। "मैं ऐसा ही हूँ" - यह कहकर हमने स्वयं पर जो सीमाएँ आरोपित की हैं, वे पूर्णतः सत्य नहीं हैं क्योंकि हममें से कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके विचार कालान्तर में बदले न हों। हमने स्वयं अपने स्वभाव और रुचियों को परिवर्तित होते देखा है। सम्भव है कि पूर्व में हमें रसगुल्ला अत्यन्त प्रिय रहा हो, परन्तु आज उसमें कोई रुचि न हो।

हमारे जीवन में कुछ परिवर्तन स्वतः ही सहज रूप से आए हैं, कुछ परिवर्तन संयोगवश किसी घटना के कारण घटित हो जाते हैं जिनमें हमारे कर्म का पुरुषार्थ नहीं होता परन्तु कुछ परिवर्तन सजगता (Consciously) के साथ भी लाए जा सकते हैं। हम सङ्कल्प शक्ति से भी स्वयं को बदल सकते हैं। **पुरुषार्थ के बल पर हम सचेत होकर अपने जीवन की दिशा बदल सकते हैं**।

एक बहुत सुन्दर गीत है-

चन्दन है इस देश की माटी, तपोभूमि हर ग्राम है।
हर बाला देवी की प्रतिमा, बच्चा-बच्चा राम है।

इस गीत की आगामी पङ्क्तियाँ हमारे पुरुषार्थ को रेखाङ्कित करती हैं-

जहाँ कर्म से भाग्य बदलते, श्रम-निष्ठा कल्याणी है।
त्याग और तप की गाथाएँ गाती कवि की वाणी है।
जीवन का आदर्श जहाँ पर परमेश्वर का धाम है|
हर बाला देवी की प्रतिमा, बच्चा-बच्चा राम है।

श्रम-निष्ठा के द्वारा किए गए कर्मों से अपने भाग्य, अपनी आदतों और अपने स्वभाव को बदला जा सकता है।

आज इस दशम अध्याय के आरम्भ में जब हम इस 'विभूतियोग' को समझने जा रहे हैं और श्रीभगवान् की विभूतियों को जानना चाहते हैं, तो हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि हम भी परमात्मा की ही एक विभूति हैं, परन्तु वह विभूति हम तभी बन सकेंगे जब

स्वयं को थोड़ा परिष्कृत करेंगे, थोड़ा निखारेंगे।

कोयले की खदान से निकला हुआ हीरा वास्तव में केवल कार्बन होता है; वह 'हीरा' तब कहलाता है जब उसे परिष्कृत किया जाता है। जब तक उसे परिष्कृत नहीं किया गया, उस कार्बन का कोई विशेष मूल्य नहीं होता। एक जौहरी की दृष्टि में उसकी सम्भावित कीमत हो सकती है, किन्तु सामान्य व्यक्ति तो उसे देखेगा भी नहीं। परिष्कृत करने (निखरने) के पश्चात् वही हीरा अमूल्य और दीप्तिमान हो जाता है। उसी प्रकार हम स्वयं को जितना परिष्कृत करेंगे, हमारे इस जीवन का मूल्य उतना ही बढ़ता जाएगा। आत्म-परिशोधन की इसी पावन प्रक्रिया से हम अपने भीतर छिपी दैवीय आभा को प्रकट कर सकते हैं।

इसी महत भूमिका के साथ श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय का आरम्भ होता है।

10.1

श्रीभगवानुवाच
भूय एव महाबाहो,शृणु मे परमं(म्) वचः।
यत्तेऽहं(म्) प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया॥10.1॥

श्रीभगवान् बोले -- हे महाबाहो अर्जुन ! मेरे परम वचन को (तुम) फिर भी सुनो, जिसे मैं मुझमें अत्यन्त प्रेम रखने तुम्हारे लिए हित की कामना से कहूँगा।

विवेचन- ईश्वर निर्मित प्रकृति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं- **विविधता** एवं **परिवर्तनशीलता**।

ब्रह्माजी द्वारा निर्मित इस सृष्टि की हर रचना विशेष और अद्वितीय है। भौतिक पदार्थों और प्राणियों में अविश्वसनीय **विविधता** है; कोई भी दो पर्वत अथवा नदियाँ एक समान नहीं हैं। एक वृक्ष पर कोटि-कोटि पर्ण (पत्तियाँ) होते हैं, परन्तु कोई भी दो पत्तियाँ एक जैसी नहीं होतीं। सड़क के चौराहों पर श्वेत और कृष्ण वर्ण की धारियों से रङ्गा हुआ जो भाग होता है, वह पैदल चलने वालों के लिए सुनिश्चित होता है, जिसे 'जेब्रा क्रॉसिङ्ग' कहते हैं। मनुष्य द्वारा निर्मित ये पट्टियाँ एक समान बनाई जाती हैं, जो जेब्रा नामक अश्व सदृश प्राणी के शरीर की आकृति से प्रेरित होती हैं, परन्तु ब्रह्माजी की सृष्टि की विलक्षणता देखिए कि संसार के करोड़ों जीवित जेब्रा में से किसी भी एक के शरीर की पट्टियाँ दूसरे से मेल नहीं खातीं। जहाँ मनुष्य द्वारा बनाई गई वस्तुएँ एक जैसी (Duplicate) हो सकती हैं, वहीं ईश्वर की रचना में प्रत्येक प्राणी अपने आप में अद्वितीय है। इस धरा पर करोड़ों मनुष्य हैं किन्तु सभी की अँगुलियों के चिह्न (फिङ्गरप्रिण्ट) और नेत्रों की पुतलियाँ (रेटिना) एक-दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ तक कि एक ही परिवार में जन्मे सहोदरों के मुख मण्डल समान हो सकते हैं, परन्तु उनके स्वभाव में अन्तर अवश्य होता है। प्रकृति वैविध्य से परिपूर्ण है, यह ईश्वर की दिव्य शक्ति का दर्शन है।

दूसरी विशेषता है **परिवर्तनशीलता**। **संसृति सः संसारा** - यह संसार प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है; यहाँ कुछ भी स्थिर अथवा निश्चल नहीं है। एक क्षण पूर्व जैसा संसार था, वैसा अब नहीं है। यदि कोई गङ्गा जी में डुबकी लगाकर बाहर आए और पुनः डुबकी लगाना चाहे, तो वह जल तो प्रवाहित होकर आगे निकल गया। उस पूर्ववत जल में पुनः डुबकी लगाना असम्भव है। हमारा शरीर हर क्षण बदल रहा है। हमारे नख और केश प्रतिपल बढ़ रहे हैं, यद्यपि हमें इसका आभास कुछ दिनों पश्चात् होता है। हमारे शरीर में निरन्तर पुरानी कोशिकाएँ नष्ट हो रही हैं और नवीन कोशिकाओं का सृजन हो रहा है। साढ़े तीन वर्षों की अवधि में हमारे शरीर की समस्त कोशिकाएँ परिवर्तित हो जाती हैं।

विविधता और परिवर्तनशीलता का यह नियम जड़ पदार्थों और चेतन प्राणियों दोनों पर समान रूप से लागू होता है। काल की गति में सब कुछ निरन्तर बह रहा है। हमारी बुद्धि, क्षमता, रुचि, संस्कार, स्वभाव, कुल, परम्परा, देश, भाषा, धर्म, समुदाय, लिङ्ग और काल इन सबमें मनुष्य भिन्न होता जा रहा है। यही कारण है कि हमारे धर्म में तैंतीस कोटि देवी-देवता हैं, क्योंकि एक ही स्वरूप में सबका मन नहीं रमता। किसी को शिवजी, किसी को राम जी, किसी को कृष्ण जी, किसी को देवी तो किसी को हनुमान जी प्रिय लगते हैं। यह अनन्त विविधता और व्यापकता ही ईश्वरीय सृष्टि की सुन्दरता है।

कबीर दास जी कहते हैं-

"राम नाम की लूट है, लूट सके तो लूट।
अन्त समय पछताएगा, जब प्राण जाएँगे छूट।।"

जब किसी ने उनसे प्रश्न किया कि वे किस राम का वर्णन कर रहे हैं, तब कबीर जी ने चार राम की व्याख्या की, कबीर दास जी के अनुसार-

एक राम दशरथ का बेटा।
एक राम घट-घट में लेटा।
एक राम का जगत पसारा।
एक राम इन सबते न्यारा।

एक राम दशरथ का बेटा- जिसमें भी तुम्हारा मन रमे, तुम उन्हीं की उपासना कर लो। चाहे पौराणिक राम हों अथवा वैदिक राम, यदि सगुण साकार राम को ही आधार बनाना है तो उनके लिए श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में इसी सगुण साकार उपासना का वर्णन है, जहाँ श्रीभगवान् कहते हैं-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

श्रीभगवान् कहते हैं कि प्रीतिपूर्वक भक्तों द्वारा अर्पण किया गया एक साधारण पत्ता भी मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ। यह सगुण साकार परमात्मा का ही स्वरूप है, जो भक्त के भाव और समर्पण के अधीन होकर उसकी सूक्ष्म भेंट को भी अपना लेते हैं।

एक राम घट-घट में लेटा- यह निर्गुण निराकार रूप है। सातवें अध्याय में श्रीभगवान् इसी व्यापक उपासना का उल्लेख करते हैं। हमारे भारतीय दर्शन में प्रकृति पूजा का विशेष विधान है, जैसे वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, सूर्य देव आदि। कई भक्त प्रकाश पुञ्ज की साधना करते हैं, कई मन्त्रों के जप में लीन रहते हैं तो कई 'ॐ' की अनन्त ध्वनि की उपासना करते हैं। पारसी धर्म के अनुयायी अग्नि को ही अपना आराध्य देव मानकर उनकी पूजा करते हैं। ये समस्त रूप उसी 'घट-घट में लेटे' राम के द्योतक हैं जो प्रत्येक कण और प्रत्येक हृदय में चैतन्य रूप से विद्यमान हैं।

एक राम का जगत पसारा- इसका विस्तृत दर्शन हम इस दसवें अध्याय 'विभूतियोग' में करेंगे।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है-

सिया राममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरी जुग पानी।

यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं परमात्मा का विस्तार है। कण-कण में श्रीभगवान् हैं।

एक राम इन सबसे न्यारा- पन्द्रहवें अध्याय में श्रीभगवान् अपने पुरुषोत्तम रूप का परिचय देते हुए कहते हैं-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः

यह वह ईश्वर है जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका धारण-पोषण करता है और सबसे न्यारा (विलक्षण) है।

नवें अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने अपनी बात पूर्ण कर दी थी। जब वक्ता को श्रोता से अपेक्षित उत्तर नहीं मिलता और वह कोई प्रश्न भी नहीं करता, तब वक्ता को यह आभास होता है कि मेरी बात अभी ठीक से समझ में नहीं आई है। श्रीभगवान् सम्भवतः गीता को वहीं पूर्ण करने के विचार में थे परन्तु अर्जुन ने आगे कोई प्रश्न नहीं किया। वे शान्त बैठे हुए हैं, न तो वह कुछ कह रहे हैं और न ही कोई स्वीकृति दे रहे हैं। अर्जुन की इस निस्तब्धता को देख श्रीभगवान् को लगा कि अर्जुन को

अभी मर्म समझ नहीं आया है।

अर्जुन ने इससे पूर्व भी श्रीभगवान् से तीन बार प्रार्थना की थी। दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ 2.7॥

फिर तृतीय अध्याय के द्वितीय श्लोक में उन्होंने कहा था-

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 3.2.॥

और फिर पाँचवे अध्याय के पहले श्लोक में फिर कहा-

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ 5.1.॥

अर्थात् जो मेरे लिए पूर्णतः कल्याणकारी हो, वही सुनिश्चित बात मुझे बताइए। अर्जुन ने स्पष्ट किया था कि मुझे वह बात बतलाइए जिसमें मेरा परम कल्याण हो, वह नहीं जो मेरी इच्छा के अनुकूल हो अथवा जिसमें कोई समझौता हो। मुझे तो एकदम शुद्ध, चौबीस कैरेट स्वर्ण के समान सत्य समझाइए। तब श्रीभगवान् ने दशम अध्याय के प्रथम श्लोक का उद्घोष किया।

श्रीभगवान् कहते हैं, '**भूय एव**' अर्थात् मैं तुम्हें पुनः बताता हूँ।

श्रीभगवान् पुनरावृत्ति के तीन मुख्य कारण बतलाते हैं। प्रथम कारण है '**परमं वचः**'। हमने अनेक बार ये शब्द सुने हैं - परम सत्य, परम धर्म, परमात्मा, परम सेवा और परम लक्ष्य। 'परम' शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ, सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट। जिस प्रकार आत्मा के साथ 'परम' शब्द जुड़ते ही वह 'परमात्मा' हो जाता है, जिसका अर्थ स्वयं श्रीभगवान् हैं। 'परम' का अर्थ है वह उच्चतम अवस्था जिससे ऊपर अन्य कुछ भी शेष नहीं है। श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि यह 'परमं वचः' है, अर्थात् यह ज्ञान की वह पराकाष्ठा है जो सर्वोच्च है। चूँकि यह परम हितकारी है, इसलिए इसे बार-बार कहा जा सकता है। यहाँ श्रीभगवान् परम कल्याण की वह बात कह रहे हैं जो ज्ञान के शिखर के समान है।

इस श्लोक में दो बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं, जिनमें श्रीभगवान् का आत्मीय भाव प्रत्यक्ष झलकता है। श्रीभगवान् अपनी बात को केवल इसलिए नहीं दोहरा रहे हैं कि वह परम श्रेष्ठ है, अपितु इसके दो और विशेष कारण हैं जो इसमें एक व्यक्तिगत स्पर्श (Personal touch) भर देते हैं। द्वितीय कारण के रूप में वे अर्जुन को '**प्रीयमाणाय**' कहकर सम्बोधित करते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, मैं तुमसे अगाध प्रेम करता हूँ, इसीलिए मैं पुनः तुम्हें यह रहस्य बताना चाहता हूँ।"

तृतीय बात यह है कि क्योंकि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, इसलिए मेरे अन्तःकरण में तुम्हारे हित की इच्छा जाग्रत हुई है। तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, यही एकमात्र कारण है कि मैं तुम्हारे श्रेय के लिए यह वचन कह रहा हूँ। यहाँ श्रीभगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि जहाँ अनन्य प्रेम होता है, वहीं हित की सच्ची कामना स्वतः उत्पन्न होती है।

सांसारिक दृष्टि से भी यदि कोई हमारे हित की कामना नहीं करता तो इसका अर्थ है कि वहाँ हमारी ओर से प्रेम में कहीं न कहीं न्यूनता है। जो व्यक्ति हमारा ध्यान नहीं रखता, हमारे कल्याण के विषय में विचार नहीं करता अथवा हमारे लिए चिन्तित नहीं रहता, वहाँ यह विचार करना चाहिए कि हमारे प्रेम का अभाव स्पष्ट है। प्रेम का वास्तविक प्रमाण दूसरे के हित की कामना करना है।

श्रीमद्भागवत महापुराण में प्रेम को सर्वश्रेष्ठ साधन कहा गया है। भक्ति के स्वरूप को परिभाषित करते हुए कहा गया है- "**प्रतिक्षण वर्धनम्**"। अर्थात् जो प्रति क्षण बढ़ता रहे, वही वास्तविक भक्ति है। प्रेम और भक्ति का स्वभाव ही यही है कि उसमें कभी ठहराव नहीं आता, वह सदैव नवीन और बढ़ती रहती है। प्रेम की पराकाष्ठा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवत महापुराण के उद्धव प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। उद्धव जी श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के प्रगाढ़ मित्र हैं। वे ज्ञान मार्ग के प्रकाण्ड विद्वान् हैं

और उन्होंने ज्ञान का इतना अभ्यास किया है कि वे भाव और प्रेम को गौण मानते थे। जिस प्रकार श्रीभगवान् अर्जुन के हित की कामना से उसे 'परमं वचः' सुनाते हैं, वैसे ही उद्धव को भी प्रेम के मार्ग पर अग्रसर करने हेतु श्रीभगवान् ने जो दिव्य उपदेश दिया, वह '**उद्धव गीता**' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध में इस अद्भुत संवाद का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।

उद्धव लीला का प्रसङ्ग-

एक समय जब चर्चा चल रही थी, तब उद्धव जी ने तर्क दिया कि प्रेम आदि तो सामान्य व्यक्तियों की बातें हैं। ईश्वर तो सदैव अपने भक्तों का हित ही चाहते हैं, अतः श्रीभगवान् ने उद्धव के लिए एक लीला रची।

अगले दिन श्रीभगवान् उद्धव को अपने साथ यमुना तट पर ले गए। वहाँ उन्होंने यमुना की धाराओं में बहते हुए एक कमल के पुष्प को देखा। श्रीभगवान् ने झुककर उस पुष्प को उठा लिया और जैसे ही उसे अपनी नासिका के समीप ले जाकर उसकी सुगन्ध ग्रहण की, वे भाव-विभोर हो गए। उन्होंने उस पुष्प को अपने हृदय से लगा लिया और उनके नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगी।

उद्धव जी श्रीभगवान् की यह दशा देखकर अत्यन्त व्याकुल हो गए। वे बार-बार पूछने लगे- "हे कृष्ण! आपको क्या हो गया है? आपकी आँखों में ये अश्रु क्यों हैं? कृपया बताइए, ऐसी क्या बात है?"

श्रीभगवान् बोले- "उद्धव, मैं तुम्हें क्या बताऊँ!"

उद्धव जी के पुनः आग्रह करने पर श्रीभगवान् ने कहा- "यह पुष्प ब्रज से बहकर यहाँ मथुरा आया है।"

उद्धव जी ने चकित होकर पूछा- "ब्रज से आया है तो इसमें ऐसा क्या है?"

श्रीभगवान् बोले- "उद्धव, तुम नहीं समझ सकते, यह कोई साधारण पुष्प नहीं है।"

उद्धव जी पुनः तर्क देते हैं- "क्यों साधारण नहीं है? यह भी तो एक सामान्य कमल का ही पुष्प है।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया- "नहीं उद्धव, इस पुष्प में श्रीराधा जी का अनन्य प्रेम समाहित है। निश्चित ही मेरे विरह में यमुना तट पर बैठकर राधा जी अश्रु बहा रही हैं। मेरा स्मरण करते हुए उन्होंने इस पुष्प को अपने हृदय से लगाया होगा, इसीलिए मुझे इसमें उनके विरह-अश्रुओं का स्पर्श और उनके अङ्गों की दिव्य गन्ध प्रतीत हो रही है।"

उद्धव जी बोले- "आप कैसी बातें कर रहे हैं? यह सब आपकी कल्पना है, आपका भ्रम है।"

श्रीभगवान् ने कहा- "उद्धव! तुम्हारी बात सत्य हो सकती है, परन्तु मैं क्या करूँ? उन गोपियों ने मुझे इतना निःस्वार्थ प्रेम दिया है कि जब वे आतुर होकर मुझे पुकारती हैं, तो मैं भी विवश होकर भाव-विभोर हो जाता हूँ। तुम्हारे पास ज्ञानयोग का बहुत बड़ा भण्डार है, अतः कल सवेरे तुम गोकुल जाओ।"

उद्धव जी ने पूछा- "मुझे गोकुल जाने के लिए क्यों कह रहे हैं?"

श्रीभगवान् बोले- "तुम जाओ और उन्हें ऐसा उपदेश दो कि वे मेरे प्रेम में अश्रु बहाना बन्द कर दें। यदि वे मेरे विरह में रोना बन्द कर देंगी, तो मुझे भी यह पीड़ा नहीं होगी। यदि तुम चाहते हो कि मेरी आँखों में अश्रु न आएँ, तो उन्हें ज्ञान देकर समझा आओ।" उद्धव जी ने जाने से बचने का बहुत प्रयास किया, परन्तु जिसे स्वयं श्रीभगवान् फँसाना चाहें, वह भला कैसे बच सकता है? अन्ततः अगले दिन उद्धव जी को गोकुल प्रस्थान करना ही पड़ा।

श्रीभगवान् ने अपनी योजना को और भी रोचक बनाते हुए उद्धव जी से कहा- "उद्धव! तुम गोकुल साधारण रीति से मत जाना। तुम मेरे रथ पर बैठकर दारुख के साथ जाना और मेरे ही वस्त्र धारण करके जाना। तुम्हारा और मेरा शारीरिक गठन एक समान है, अतः तुम मेरे ही वस्त्र पहनना और मस्तक पर मेरा वही मोर पङ्ख वाला मुकुट भी लगाना।"

उद्धव जी आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे- "हे कृष्ण! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? आपके वस्त्र और आपका मुकुट पहनकर जाने का क्या प्रयोजन है?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया- "उद्धव, मेरी बात मानो; ब्रजवासी तुम्हें तभी सुनेंगे जब तुम इस वेश में जाओगे।"

अगले दिन प्रातः काल श्रीभगवान् ने स्वयं उद्धव जी को तैयार किया। उन्हें अपने पीताम्बर दिए, अपना मुकुट पहनाया और अपने ही रथ पर बिठाकर विदा किया। उद्धव जी श्रीभगवान् के रथ पर आरूढ़ होकर ब्रज की ओर चल पड़े। मथुरा से ब्रज की ओर जब रथ अग्रसर हुआ और आधा मार्ग व्यतीत हो गया, तब उद्धव जी ने ब्रज की दिशा से आती हुई मन्द सुगन्धित वायु का अपने शरीर पर स्पर्श अनुभव किया। ज्ञानयोग के कठोर और शुष्क अभ्यास के कारण उद्धव जी का हृदय पूर्णतः भावनाशून्य हो गया था, परन्तु ब्रज की इस अलौकिक रज से स्पर्शित वायु के सम्पर्क में आते ही उनके भीतर दबी हुई संवेदनाएँ पुनः जीवन्त होने लगीं।

विविध प्रकार की भावनाओं का वह विलक्षण स्पन्दन उनके चित्त को विचलित करने लगा। उद्धव जी विस्मय में डूबकर सोचने लगे- "आज मुझे यह क्या हो रहा है? मेरा सुदृढ़ मन इस प्रकार चञ्चल क्यों हो रहा है?" अभी वे अपनी इस मानसिक अवस्था को समझने का प्रयास कर ही रहे थे कि उतनी ही देर में उन्हें पावन ब्रज मण्डल की सीमा के दर्शन होने लगे।

ब्रजवासियों को दूर से एक रथ आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। यह वही रथ था जिसमें बैठकर श्रीकृष्ण मथुरा गए थे। जब श्रीभगवान् ब्रज से विदा हुए थे, तब गोप-गोपिकाएँ उस रथ को तब तक अपलक निहारते रहे थे जब तक वह उनकी आँखों से ओझल नहीं हो गया। उनके हृदय में वही अन्तिम छवि अङ्कित हो गई थी और वे मानो वहीं जड़वत् खड़े रह गए थे। अतः जब दूर से वही परिचित रथ आता दिखाई दिया, तो एक गोप ने हर्षित होकर कहा- "अरे देखो! लगता है हमारा कान्हा वापस आ रहा है। यह तो वही रथ है जिस पर बैठकर वह गया था।" दूसरी गोप ने भी उसे ध्यान से देखा और उल्लास में भर गया। देखते ही देखते पूरे ब्रज में यह शोर मच गया कि "कान्हा आ रहा है! हमारा कृष्ण वापस आ रहा है!" सभी ब्रजवासी अपनी सुध-बुध खोकर उस रथ की ओर दौड़ने लगे।

सभी ब्रजवासी उस रथ को अपलक देखते हुए एक स्वर में कह उठे- "हाँ! यह वही रथ है, वही रथ है! हमारा कान्हा लौट आया है, हमारा कृष्ण आ गया है!" गोपियाँ हर्षोन्माद में नृत्य करने लगीं कि उनका प्राणप्रिय कृष्ण वापस आ रहा है। उनकी आँखें उस रथ पर टिकी हुई थीं और वे उल्लास में थिरक रही थीं। जैसे-जैसे रथ और समीप आया, उसकी प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखाई देने लगी। दूर से श्रीभगवान् के वे परिचित वस्त्र चमक रहे थे। चूँकि उद्धव जी ने श्रीकृष्ण के ही वस्त्र धारण किए थे, इसलिए गोपियों को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह पक्का हमारा कन्हैया ही है। वे एक-दूसरे को दिखाकर कहने लगीं- "सखी देखो, उसने वही पीताम्बरी पहनी है!" जब रथ थोड़ा और निकट आया, तब मुकुट भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। वे उल्लास से भर गईं— "हाँ! देखो, मुकुट पर वही मोरपङ्ख भी लगा है! अब तो कोई सन्देह नहीं, यह निश्चित ही हमारा कृष्ण है!"

वर्षों का विरह आज अचानक मिलन की आशा में परिवर्तित हो गया। गोपियाँ सुध-बुध खोकर पुनः वैसा ही दिव्य नृत्य करने लगीं, जैसा वे श्रीकृष्ण के साथ वन में किया करती थीं। विरह के कई वर्षों का दुःख आज आनन्द के अश्रुओं में बहने लगा। जैसे-जैसे रथ समीप आता गया और उद्धव जी का मुख मण्डल स्पष्ट रूप से पहचान में आने लगा, वैसे ही गोप-गोपियों के हर्ष पर वज्रपात सा हुआ। वे समझ गईं कि श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के भेष में कोई और आया है। जहाँ दूर से रथ को आता देख गोपियाँ उल्लास में नृत्य कर रही थीं, वहीं सत्य का आभास होते ही अचानक सन्नाटा छा गया। जो गोप और गोपिकाएँ क्षण भर पूर्व तक नाच रहे थे, रथ के समीप पहुँचते ही वे सब एकाएक शान्त हो गए, रथ के रुकते ही सब स्तब्ध खड़े रह गए। सबके मन में एक ही प्रश्न था कि "यह कौन है? कहाँ से आया है और यहाँ क्यों आया है?" न उद्धव जी कुछ बोल पा रहे थे और न ही गोप-गोपियों को कुछ समझ आ रहा था। दोनों पक्ष एक-दूसरे को विस्मय से निहार रहे थे कि वार्ता का आरम्भ कैसे हो।

अन्ततः उद्धव जी ने मौन तोड़ा और कहा- "मैं श्रीकृष्ण का मित्र हूँ, मेरा नाम उद्धव है।" जैसे ही ब्रजवासियों ने सुना कि वे कृष्ण के मित्र हैं, उनके मुरझाए हुए मुखों पर पुनः आभा लौट आई। सबकी आँखों में पुनः एक चमक आ गई।

वे सब उत्सुकता वश उद्धव जी को घेरकर खड़े हो गए और उन्हें स्पर्श करने लगे। वे व्याकुल होकर पूछने लगे- "अरे! क्या आप प्रतिदिन हमारे कन्हैया से वार्ता करते हैं? क्या आप सदैव उनके साथ रहते हैं? क्या आप वास्तव में उनके सखा हैं?"

यह सुनकर प्रेम की उमङ्ग में भरकर उन सबने उद्धव जी को अपने कन्धों पर उठा लिया और यह घोष करते हुए गोकुल की और चलने लगे- "अरे देखो! हमारे कृष्ण का मित्र आया है! हमारे प्राणप्रिय का सखा आया है!" उद्धव जी तो हतप्रभ रह गए, उन्हें कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि यहाँ के लोगों का भाव कैसा है। वे सोचने लगे- "अभी तो ये सब उल्लास में नृत्य कर रहे थे, फिर अचानक रूठकर मौन हो गए और अब जैसे ही मैंने स्वयं को मित्र बताया तो ये मुझे कन्धों पर उठाकर उत्सव मनाने लगे!"

नन्दबाबा के यहाँ सब पहुँचे, पर उद्धव जी उन ब्रजवासियों के प्रश्नों का कोई उत्तर ही नहीं दे पा रहे थे; क्योंकि उन पर तो प्रश्नों की अनवरत वर्षा हो रही थी। गोपियाँ उद्धव जी से प्रश्न पर प्रश्न पूछती जा रही थीं, किन्तु किसी को भी उत्तर की प्रतीक्षा नहीं थी। उन सभी को तो बस अपने मन की व्यथा और अपने हृदय की बातें कहनी थीं। उद्धव जी को कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिल रहा था। सब अपनी ही बातें सुनाते रहे कि श्रीकृष्ण के साथ हम कैसे क्रीड़ा करते थे, वे कैसे हमारे साथ रहते थे और कैसी-कैसी लीलाएँ करते थे। गोपियों की आँखों में श्रीकृष्ण के लिए वह अथाह प्रेम और उनके दर्शनों के लिए वह गहरी व्याकुलता देखकर उद्धव जी पूर्णतः विस्मित रह गए।

अन्ततः नन्दबाबा ने कहा- "अरे! ये इतनी दूर मथुरा से आए हैं, पहले इन्हें जलपान करने दो और थोड़ा विश्राम करने दो। हम शेष वार्ता अब कल सवेरे करेंगे।" नन्द बाबा ने सबको विदा करने के पश्चात् उद्धव जी को भोजन आदि कराया और उनके विश्राम की व्यवस्था की।

ज्ञान के प्रतीक उद्धव जी उस रात्रि ब्रज की प्रेममयी रज में डूबे रहे। उन ब्रजवासियों का वह पावन प्रेम-भाव अब धीरे-धीरे उद्धव जी के भीतर भी प्रवेश करने लगा था। उद्धव जी तो यह सोचकर आए थे कि मैं अपने अकाट्य तर्कों से इन्हें समझाऊँगा और इनके विरह को शान्त कर दूँगा, परन्तु यहाँ तो स्थिति सर्वथा विपरीत थी। उद्धव जी स्वयं ही उस प्रेम के प्रभाव में समाहित होते जा रहे थे। अगले दिन उद्धव जी के जागने से पूर्व ही पूरा गाँव पुनः उनके द्वार पर सज्ज खड़ा था। उद्धव जी जब अपना स्नान और नित्य कर्म पूर्ण करके बाहर निकले तो फिर से वही क्रम आरम्भ हो गया, गोपियों और ग्वालों के अनन्त प्रश्न और श्रीकृष्ण की स्मृतियाँ।

ब्रजवासी उद्धव जी को अपनी अनुभूतियाँ बताने के लिए इतने आतुर थे कि उन्हें अपनी बात कहने का तनिक भी अवसर नहीं मिल रहा था। वे उन्हें उन पावन स्थलों पर ले जाने लगे जहाँ श्रीकृष्ण की लीलाएँ जीवन्त थीं। कोई उन्हें उस मार्ग पर ले जाता जहाँ से कृष्ण गौ-चारण के लिए वन जाते थे, कोई उन्हें यमुना का वह तट दिखाता जहाँ श्रीभगवान् ने उनके साथ दिव्य रास रचाया था। प्रतिदिन उद्धव जी को नवीन स्थानों के दर्शन कराए जाते और प्रत्येक स्थान पर एक नई लीला का वर्णन होता। कहीं श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं की कथा होती, तो कहीं उनके द्वारा किए गए असुरों के वध और वीरता के प्रसङ्ग सुनाए जाते।

उद्धव जी ब्रजवासियों के प्रेम और उनकी स्मृति की गहराई को देखकर चकित रह गए। उन्होंने विस्मय से पूछा- "हे ब्रजवासियों! श्रीकृष्ण तो यहाँ केवल ग्यारह वर्षों तक ही रहे थे, परन्तु आप लोग उनकी इतनी कथाएँ और इतनी लीलाएँ सुना रहे हैं, मानो वे यहाँ पाँच सौ वर्षों तक रहे हों!

उद्धव जी जो ज्ञान का सन्देश देने आए थे, वे स्वयं उन कथाओं के रस में डूब गए। इस प्रकार सत्सङ्ग और लीला-चिन्तन करते-करते तीन मास व्यतीत हो गए। इन तीन मासों में गोपियों ने अपने निष्काम और अनन्य प्रेम से ज्ञानमार्गी उद्धव जी के हृदय को पूरी तरह आप्लावित कर दिया। जो उद्धव जी शुष्क तर्क लेकर आए थे, अब उनके भीतर भी प्रेम की अविरल धारा बहने लगी थी। तीन मास बीतने के उपरान्त, उद्धव जी को स्मरण आया कि वे तो यहाँ गोपियों के विरह को शान्त करने और उन्हें ब्रह्म-

ज्ञान का उपदेश देने आए थे। उद्धव जी ने मन ही मन निश्चय किया कि अब समय आ गया है कि इन ब्रजवासियों को उस निराकार तत्त्व का बोध कराया जाए, ताकि वे इस वियोग की पीड़ा से मुक्त हो सकें। गोपियों ने उद्धवजी को थोड़ा सुना और कहा- आपका यह ज्ञान हमारे काम का नहीं है।

सूरदासजी का एक पद है-

उद्धव मन न भए दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम संग, कौ अवराधै ईस।।
उद्धव मन न भए दस बीस।

मथुरा से आते समय श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा था- **ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।**

अन्त में गोपियों ने उद्धव जी को कहा- आपके ज्ञान के बातें हमारे किसी काम की नहीं।

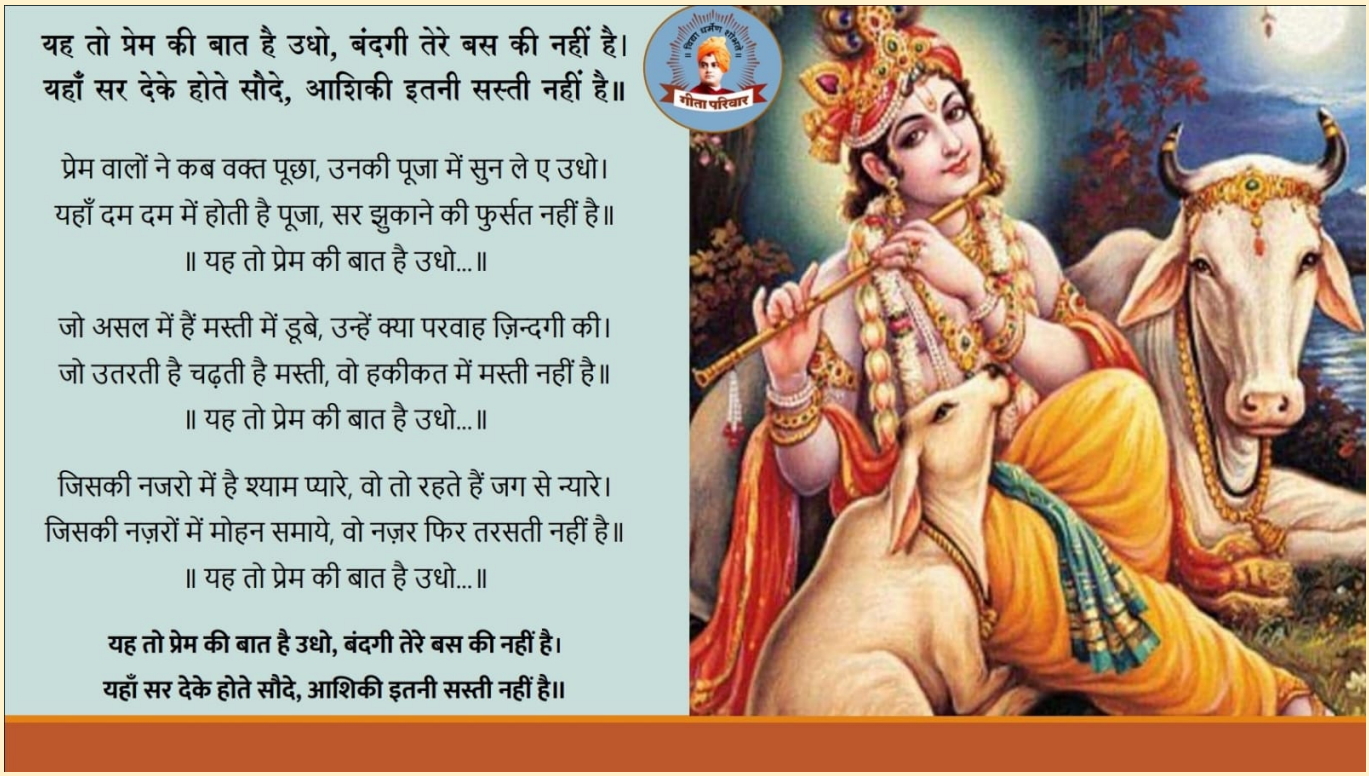

ये तो प्रेम की बातें है ऊधो, बन्दगी तेरे बस की नहीं है।
यहाँ सिर दे के होते हैं सौदे, आशिकी कोई सस्ती नहीं है।।

शुष्क ज्ञान का उपदेश देने ब्रज आए थे, वे गोपियों के अनन्य और पावन प्रेम की धारा में स्वयं ही बह गए। तीन मास तक ब्रज की उस प्रेममयी रज और गोपियों के कृष्ण-अनुराग के सान्निध्य में रहने के कारण उद्धव जी के भीतर का सारा तार्किक अभिमान विलीन हो गया। जब वे मथुरा लौटे तो पूर्णतः बदल चुके थे; अब वे वह पहले वाले ज्ञानमार्गी उद्धव नहीं रहे थे। गोपियों की निःस्वार्थ प्रेमा-भक्ति ने उनके पत्थर जैसे हृदय को मोम की भाँति पिघला दिया था। जो उद्धव जी दूसरों को समझाने आए थे, वे स्वयं ही प्रेम के रङ्ग में रँगकर आए।

कबीरदासजी ने बड़ी सुन्दर बात कही है-

कबीरा कबीरा क्या कहे, जा जमुना के तीर।।

जहाँ इक गोपी के प्रेम में, बह गए कोटि कबीर।।

श्रीभगवान् की भक्ति में सबसे महत्त्वपूर्ण भाव प्रेम ही है। जिस प्रकार श्रीभगवान् ने उद्धव जी के प्रति अपने अतिशय प्रेम के कारण ही उन्हें ब्रज भेजा, ताकि वे प्रेम के वास्तविक स्वरूप को समझ सकें, ठीक उसी प्रकार अर्जुन के प्रति अपने अगाध प्रेम के कारण ही उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का यह दशम् अध्याय सुनाया।

10.2

न मे विदुः(स्) सुरगणाः(फ्), प्रभवं(न्) न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां(म्), महर्षीणां(ञ्) च सर्वशः॥10.2॥

यह (विज्ञान सहित ज्ञान अर्थात् समग्र रूप) सम्पूर्ण विद्याओं का राजा (और) सम्पूर्ण गोपनीयों का राजा है। यह अति पवित्र (तथा) अतिश्रेष्ठ है (और) इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यह धर्ममय है, अविनाशी है (और) करने में बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं- "हे अर्जुन! मेरी उत्पत्ति को न तो देवगण जानते हैं, न ही कोई महान ऋषिगण और न विद्वज्जन जानते हैं, क्योंकि मैं ही सब प्रकार से उन समस्त देवों तथा महर्षियों का आदि कारण हूँ।"

इस गूढ़ सत्य को एक सरल उदाहरण से समझा जा सकता है। हम सबके साथ कभी न कभी ऐसा अनुभव अवश्य हुआ होगा कि जब हम अपने विवाह का चित्र-सङ्ग्रह (Album) देखते हैं, तो हमारी अबोध सन्तान पूछती है कि उस चित्र-सङ्ग्रह में उसका चित्र क्यों नहीं है? वह देखती है कि अन्य सभी सम्बन्ध और सम्बन्धी वहाँ उपस्थित हैं, परन्तु केवल वही वहाँ नहीं है। उस अबोध बालक को यह समझाना कठिन होता है कि उसकी उत्पत्ति तो उस विवाह के पश्चात् हुई है। जो वस्तु या व्यक्ति किसी घटना के बाद अस्तित्व में आता है, वह अपने से पूर्व की घटना का साक्षी कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार श्रीभगवान् यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जिन महर्षियों, मुनियों अथवा देवताओं को उन्होंने स्वयं उत्पन्न किया है, वे उस अविनाशी परमात्मा के आदि स्वरूप को पूर्णतः कैसे जान सकते हैं? वे सब तो श्रीभगवान् की विभूतियाँ हैं, जबकि श्रीभगवान् उन सबके आदि स्रोत हैं।

10.3

यो मामजमनादिं(ञ्) च,वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः(स्) स मर्त्येषु, सर्वपापैः(फ्) प्रमुच्यते॥10.3॥

जो (मनुष्य) मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़ता से (संदेह रहित) स्वीकार कर लेता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान है (और) (वह) सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् अजन्मे हैं, जिनका कभी जन्म नहीं होता और जो आदि रहित हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के नौवें श्लोक में श्रीभगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है कि वे कभी सामान्य मनुष्यों की भाँति जन्म नहीं लेते।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

श्रीभगवान् का जन्म और कर्म सामान्य नहीं, अपितु दिव्य है। श्रीराम और श्रीकृष्ण की उत्पत्ति 'योनिजा' नहीं है, अर्थात् वे साधारण मनुष्यों की भाँति गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए, अपितु वे तो स्वेच्छा से प्रकट हुए हैं। श्रीभगवान् के कर्म भी दिव्य हैं और उनकी कभी मृत्यु नहीं होती। उनका शरीर चिन्मय है, वे हम मनुष्यों की भाँति पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से निर्मित भौतिक शरीर नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत महापुराण में इसका बड़ा ही विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। जब श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी लीला का संवरण करने

का निश्चय किया, तब समस्त देवी-देवता आकाश में यह देखने हेतु एकत्रित हुए कि वे किस दिशा से अपने धाम को प्रस्थान करेंगे। यद्यपि संसार की दृष्टि में व्याध का तीर एक निमित्त बना, परन्तु जो सर्वव्यापी हैं, उन्हें किसी दिशा विशेष में जाने की क्या आवश्यकता? वे तो सबके देखते-देखते वहीं अन्तर्ध्यान हो गए। चूँकि उनका शरीर पञ्च-भौतिक नहीं था, इसलिए वह पीछे शेष नहीं रहा।

जिसका जन्म ही नहीं हुआ, उसकी मृत्यु भला कैसे सम्भव है? श्रीभगवान् तो केवल अपनी इच्छा से प्रकट और अन्तर्ध्यान होते हैं। जो मनुष्य इस रहस्य को जान लेता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यहाँ मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि केवल यह जान लेने से कोई पापमुक्त कैसे हो सकता है?

भगवान् श्रीराम ने माता शबरी को दर्शन दिए और एक अत्यन्त गूढ़ सत्य प्रकट किया-

"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पावहि निज सहज सरूपा॥"

अर्थात् मेरे दर्शन का फल परम अनुपम है; मेरे दर्शन मात्र से ही जीव अपने वास्तविक और सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जब जीव को अपने दिव्य स्वरूप का बोध हो जाता है, तब उसके समस्त सञ्चित पाप स्वतः ही भस्म हो जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में रामायण के माध्यम से वाल्मीकि जी कहते हैं कि जिस क्षण मनुष्य परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है, वह स्वयं 'परमात्मा' का ही रूप हो जाता है-

"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥"

अर्थात् हे प्रभु! आपको वही जान सकता है जिसे आप अपनी कृपा से बोध कराते हैं और आपको जानते ही वह साक्षात् आपका ही स्वरूप हो जाता है।

10.4, 10.5

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः, क्षमा सत्यं(न्) दमः(श्) शमः।
सुखं(न्) दुःखं(म्) भवोऽभावो, भयं(ञ्) चाभयमेव च॥10.4॥
अहिंसा समता तुष्टिः(स्), तपो दानं(म्) यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां(म्),मत्त एव पृथग्विधाः॥10.5॥

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय और
अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अपयश - प्राणियों के (ये) अनेक प्रकार के और अलग-अलग (बीस) भाव मुझसे ही होते हैं।

विवेचन- तृतीय श्लोक में एक विशेष शब्द आया है- **लोकमहेश्वरम्**। सात ऊर्ध्व लोक और सात अधो लोक, इन समस्त चौदह भुवनों के स्वामी एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं। श्रीभगवान् इन स्थूल लोकों के स्वामी तो हैं ही, परन्तु चतुर्थ और पञ्चम श्लोक में वे बीस सूक्ष्म भावों की भी चर्चा करते हैं। वेदान्त में तीन प्रकार के आकाश बताए गए हैं- **महाकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश**। श्रीभगवान् यहाँ हमारे 'चित्ताकाश' की चर्चा कर रहे हैं कि हमारे चित्त के इस आकाश में हम किन बीस भावों के साथ रहते हैं।

वे कहते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों को वश में करना (दम), मन का निग्रह (शम), सुख-दुःख, उत्पत्ति और प्रलय (होना और न होना), भय और अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश ये नाना प्रकार के भाव मुझ से उत्पन्न होते हैं। ये सभी भाव मनुष्य के आन्तरिक जगत् का निर्माण करते हैं और इन सबका मूल स्रोत स्वयं परमात्मा ही हैं। इन बीस भावों में श्रीभगवान् सर्वप्रथम 'बुद्धि' का वर्णन करते हैं।

बुद्धि- बुद्धि वह निर्णयिका शक्ति है जिसके माध्यम से हम उचित और अनुचित का विवेक करते हैं। जब भी हम कोई अनुचित कार्य करते हैं, मन में अशुद्ध विचार लाते हैं अथवा असत्य वाचन करते हैं, तब हमें अन्तःकरण में भली-भाँति यह ज्ञात होता है कि यह त्रुटिपूर्ण है। वह कौन है जिसे इस अशुद्धि का तत्काल बोध हो जाता है? वह वास्तव में बुद्धि में स्थित परमात्मा का ही अंश है। श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि बुद्धि की उस सूक्ष्म निर्णय शक्ति में, मैं ही निवास करता हूँ।

यह सम्भव ही नहीं है कि मनुष्य कुछ अनैतिक करे और उसे स्वयं इसका बोध न हो। पाँच वर्ष का लघु बालक भी यह सहजता से जानता है कि असत्य बोलना अनुचित है। यह उसके भीतर स्थित ईश्वरीय चेतना का ही स्वर है। श्रीभगवान् ने हमें स्वतन्त्रता प्रदान की है, इसलिए हम कभी-कभी अपने स्वार्थवश उस आन्तरिक स्वर को अनसुना कर देते हैं, परन्तु निर्णय की उस मूल एवं सत्य शक्ति में श्रीभगवान् ही प्रतिष्ठित हैं।

ज्ञान- सार-असार, ग्राह्य-अग्राह्य, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, प्रकृति-पुरुष का ज्ञान।

असम्मोह- असम्मोह को समझने हेतु सर्वप्रथम 'सम्मोह' को समझना आवश्यक है। हम इस नश्वर शरीर को अपना मानते हैं, इसलिए इस शरीर से जुड़े हुए समस्त सम्बन्धों को भी अपना मानने लगते हैं। वास्तविकता में यह मोह ही हमारे बन्धन का कारण है। श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि जब यह शरीर ही तुम्हारा नहीं है, तो इससे जुड़े हुए नाते-रिश्ते तुम्हारे कैसे हो सकते हैं? जब हमारे भीतर यह बोध विकसित होने लगता है, तब 'असम्मोह' की स्थिति उत्पन्न होती है। आपने सम्मोहन विद्या के विषय में सुना होगा, जिसमें कोई व्यक्ति आपके सम्मुख पेण्डुलम घुमाता है और निरन्तर कुछ निर्देश देता रहता है। आप उस घूमते हुए यन्त्र को देखते जाते हैं और उस व्यक्ति के निर्देशानुसार सोचने लगते हैं। धीरे-धीरे वह आपको पूर्णतः सम्मोहित कर लेता है और आपको वही सत्य प्रतीत होने लगता है, जो वह कह रहा होता है। ठीक इसी प्रकार, हम भी इस संसार में मोह के कारण वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों में अपनी आसक्ति और प्रीति के कारण जकड़े हुए हैं। इस मोह के आवरण को हटाकर सत्य को देखना ही 'असम्मोह' है।

सभी पाण्डव धर्मावतार थे। अन्तिम समय में श्रीभगवान् ने केवल मोह की परीक्षा ली। धर्मराज युधिष्ठिर स्वर्गारोहण के लिए निकले तो द्रौपदी सहित चारों पाण्डवों ने कहा वे भी साथ में जाएँगे। युधिष्ठिर महाराज ने उनका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु सफलता की शर्त थी कि कोई भी पीछे मुड़कर नहीं देखेगा। जिसने इस शर्त का उल्लङ्घन किया वह सशरीर स्वर्ग नहीं जायेगा। सभी मार्ग पर चलने लगे। सबसे पहले द्रौपदी गिरी तो द्रौपदी को देखने हेतु नकुल मुड़े। नकुल भी वहीं गिर गए। नकुल को देखने के लिए सहदेव मुड़े तो सहदेव भी गिर गए। सहदेव को देखने के लिए अर्जुन मुड़े तो अर्जुन भी गिर गए। अर्जुन को देखने के लिए भीम मुड़े तो भीम भी गिर गए। द्रौपदी और चारो पाण्डव एक-एक कर के गिरे परन्तु धर्मावतार युधिष्ठिर महाराज अन्त तक नहीं मुड़े। उन्होंने सबको त्याग कर असम्मोह की स्थिति प्राप्त की और वे सशरीर स्वर्ग पहुँचे। बाकी सब पाण्डव सशरीर स्वर्ग नहीं गए।

क्षमा- 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। गाँधी जी कहते थे कि क्षमा शक्तिशालियों का गुण है। दण्ड देने का अधिकार होने पर भी जो क्षमा कर सकता है, वही क्षमा है। यह अत्यन्त दैवीय सद्गुण है। निर्बल क्षमा करने की योग्यता नहीं रखता।

सत्य- सत्य समस्त सद्गुणों का आधार है। सत्य केवल वाणी तक सीमित नहीं है अपितु यह हमारे व्यवहार और हमारी धारणा में भी होना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य तुच्छ लाभ के लिए सरलता से असत्य का सहारा ले लेता है। कई बार तो स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि बिना किसी स्वार्थ या प्रयोजन के भी, केवल अभ्यास या आदत के कारण हम झूठ बोल देते हैं।

श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि वे स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित हैं। जिसके जीवन में सत्य का जितना अधिक वास होगा, उसे परमात्मा की अनुभूति उतनी ही शीघ्र होगी। सत्य का आचरण करना वास्तव में परमात्मा के ही स्वरूप का आचरण करना है।

दम और शम- इन्द्रियों और मन का निग्रह।

सुख-दुःख- जो हमें प्रिय है, उसका प्राप्त होना और जो हमें अप्रिय है, उसका दूर होना हमें सुख की अनुभूति कराता है। इसके

विपरीत, प्रिय वस्तु का छिन जाना और अप्रिय स्थिति का सामने आना हमें दुःख प्रदान करता है।

भव-अभव- भव और अभव (उत्पत्ति और प्रलय) के विषय में हमारी दृष्टि प्रायः शरीर तक ही सीमित रहती है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम पैदा हुए हैं और एक दिन मर जाएँगे। अपनी इसी सीमित बुद्धि के कारण हम यह सोचने की भूल कर बैठते हैं कि श्रीभगवान् भी इसी प्रकार प्रकट हुए होंगे और इसी प्रकार उनका भी अन्त हुआ होगा।

भय-अभय- जितना श्रीभगवान् पर आश्रय पक्का होगा, सद्गुरु पर भी आश्रय पक्का होगा। जीवन में किसी बात का भय नहीं होगा। जीवन में जितना अधिक भय है, इसका अर्थ यह है कि श्रीभगवान् पर उतना ही विश्वास कम है। अरे, जब हम राम जी के हो गए, तो फिर डर कैसा? वे ही हमारा बेड़ा पार करेंगे। मन में उदासी क्यों रखनी?

सीताराम सीताराम कहिए, जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिए।

जब मनुष्य को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि "**होइहि सोई जो राम रचि राखा**", तब उसे किसी का भय नहीं सताता।

कबीरदास जी की वाणी है-

काल पकड़ चेला किया भय के पकड़े कान।
समर्थ गुरु खड़े साथ किसे करें सलाम।

जिसके पास अपने सद्गुरु का आश्रय है, अपने इष्ट का सम्बल है, उसे किसी भी बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसके मन में यह भाव सुदृढ़ होता है कि यदि कुछ विकट भी होगा, तो मेरे गुरु सँभाल लेंगे, मेरे इष्ट रक्षा करेंगे। इसी पूर्ण शरणागति से जीवन में 'अभय' का अवतरण होता है, इसलिए इष्ट और गुरु निश्चित करो।

अहिंसा- अहिंसा के सन्दर्भ में आज एक नवीन और सूक्ष्म दृष्टिकोण को समझते हैं। प्रायः हम यही मानते हैं कि किसी दूसरे प्राणी को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना ही अहिंसा है, परन्तु, इसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि हम स्वयं के प्रति भी हिंसक न हों। जब हम यह कहते हैं कि "मेरी तो किस्मत ही खराब है" या "मैं किसी योग्य नहीं हूँ," तब हम अनजाने में स्वयं के साथ ही हिंसा कर रहे होते हैं। नकारात्मक विचारों से स्वयं को प्रताड़ित करना भी हिंसा का ही एक रूप है। जो व्यक्ति स्वयं के प्रति हिंसक है, वह कभी न कभी दूसरों के प्रति भी हिंसक हो ही जाएगा। इसके विपरीत, जो स्वयं के आत्म-स्वरूप का सम्मान करता है और स्वयं के प्रति दयालु है, वही वास्तव में दूसरों के साथ भी अहिंसक व्यवहार कर सकता है। अपने प्रति अत्यधिक कठोर होने वाला व्यक्ति दूसरों के प्रति भी कठोर हो सकता है। अतः अहिंसा का वास्तविक अर्थ है मन, वचन और कर्म से किसी को भी कष्ट न पहुँचाना, न स्वयं को और न ही किसी दूसरे को।

समता- हमारे साथ प्रायः यह समस्या होती है कि जब हम भक्ति या ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं, जैसे श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करने लगे, तो हमें अपने ही परिवार के लोग 'फालतू' या व्यर्थ लगने लगते हैं। यह समता नहीं, अपितु अहङ्कार है। यदि गीता पढ़ने के बाद कोई हमें अपने से 'हल्का' या निम्न लगने लगा है, तो समझ लीजिए कि हमने गीता को जिया नहीं है।वास्तविक ज्ञान तो वह है जिससे सभी अच्छे लगने लगें। अक्सर हम स्वयं को महान और 'सात्त्विक' समझने लगते हैं और दूसरे लोग हमें 'तामसिक' या अज्ञानी प्रतीत होने लगते हैं।

श्रीरामचरितमानस के अयोध्या काण्ड के सन्दर्भ में श्रीभगवान् कहते हैं-

"सब मम प्रिय सब मम उपजाए।"

अर्थात् सभी मुझे प्रिय हैं क्योंकि सभी मेरे द्वारा ही रचे गए हैं। जब हमारे भीतर यह भाव जाग्रत होता है कि "**सियाराम मय सब जग जानी**", तब न कोई छोटा रहता है, न कोई बड़ा और न कोई पराया। सबको समान आदर देना और सबके भीतर ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करना ही 'समता' है। स्वयं को श्रेष्ठ मानना और दूसरों को हीन दृष्टि से देखना आध्यात्मिक मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। हमारे महान सन्तों का जीवन हमें यही सिखाता है कि भक्ति जितनी गहरी होती है, विनम्रता उतनी ही बढ़ती है।

सूरदास जी, तुलसीदास जी और कबीर दास जी जैसे महापुरुष, जो साक्षात् श्रीभगवान् की लीलाओं के दर्शन करते थे, वे भी सदैव स्वयं को दीन और लघु ही मानते रहे। परम भक्त भाईजी श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार, जो नित्य अपनी आँखों से प्रभु की लीला देखते थे, वे भी प्रभु के सम्मुख यही कहते थे-

नाथ मैं थारो जी थारो, चोखो, बुरो, कुटिल अरु कामी, जो कुछ हूँ सो थारो

विचार कीजिए, जब इतने महान महापुरुष स्वयं को 'कमी वाला' पुरुष कह रहे हैं, तो हम जैसे साधारण मनुष्यों का स्वयं को 'महान' समझना कितनी बड़ी मूर्खता है।

रहीमदास जी ने बहुत ही सुन्दर कहा है-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय

रहीम दास जी का भी यही भाव था कि उन्हें संसार में कोई बुरा दिखता ही नहीं था, क्योंकि उन्होंने अपनी दृष्टि को इतना पावन कर लिया था कि वे स्वयं के भीतर के दोषों को ही देखते थे। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि हम थोड़ा सा नाम-जप या पाठ करने लगते हैं तो हमारे भीतर 'सात्त्विक अहङ्कार' आ जाता है और हम दूसरों को तामसिक समझने लगते हैं।

दूसरे अध्याय के अड़तालीसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा है-

समत्वं योग उच्यते।

जीवन में सन्तुलन बनाकर चलना ही समता है।

तुष्टि- सन्तोष। जब जीवन में समता आती है, तभी वास्तविक तुष्टि (सन्तोष) का उदय होता है। संसार का सच्चा सम्राट वही है जिसे कुछ नहीं चाहिए, क्योंकि जिसकी इच्छाएँ समाप्त हो गईं, वह पूर्णतः स्वतन्त्र है। इसके विपरीत, यदि सन्तोष नहीं है तो मनुष्य कितना भी 'बड़ा' क्यों न बन जाए, वह भीतर से एक भिखारी ही रहता है। अपनी तृष्णा पूरी करने के लिए वह अनैतिक समझौते करता है, गलत लोगों का साथ देता है और पग-पग पर हाथ जोड़कर खड़ा रहता है।

महाभारत के यक्ष प्रसङ्ग में यक्ष ने युधिष्ठिर महाराज से पूछा-
को दरिद्रः?
युधिष्ठिर महाराज ने कहा- असन्तुष्टः स दरिद्रः।
अर्थात् जो असन्तुष्ट है, वह दरिद्र है।

चाहे वह कितना ही धनवान हो, कितना ही प्रसिद्ध हो, यदि वह सन्तुष्ट नहीं है तो वह दरिद्र है। सन्तोष और उदारता का सम्बन्ध धन से नहीं, अपितु मन के भाव से होता है। एक निर्धन व्यक्ति, जो अपनी जेब में केवल दो सौ रुपये लेकर कुम्भ स्नान के लिए निकलता है, वह बड़े आनन्द के साथ मार्ग में दान भी करता है, पूजा-पाठ भी करता है और मात्र बीस रुपये के भोजन में भी पूर्णतः सन्तुष्ट होकर घर लौट आता है। वह उस अल्प राशि में से भी पचास रुपये पण्डा-पुरोहित को प्रसन्नतापूर्वक दे आता है क्योंकि उसका हृदय बड़ा है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति पचास हजार रुपये की टिकट लेकर तीर्थ पहुँचता है, यदि उसे वहाँ पण्डा या पुरोहित को पाँच सौ रुपये देने पड़ जाएँ, तो वह तत्काल शोर मचाने लगता है कि "यहाँ तो लूट मची हुई है!" वह व्यक्ति साधन सम्पन्न होकर भी भीतर से दरिद्र है।

अक्सर देखा जाता है कि एक धनवान व्यक्ति सब्जी वाले से दो-चार रुपयों के लिए घण्टों मोल-भाव करेगा, जबकि उसका साधारण सा नौकर बिना किसी तर्क-वितर्क के सहज भाव से सामान ले आता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस नौकर के पास पर्याप्त धन नहीं है, वह दुकानदार से मोल-भाव नहीं करता; वह ईश्वर पर आश्रित होकर सहजता से क्रय करता है, परन्तु जिसके पास विपुल धन है, वह एक टमाटर के मूल्य के लिए भी सब्जी वाले से लड़ाई करने पर उतारू हो जाता है। यदि आप सब्जी वाले से मोल-भाव न करके उसे दो-चार रुपये अधिक दे देते हैं, तो यह पुण्य का कार्य है। ईश्वर ने आपको इस योग्य

बनाया है कि आप किसी की सहायता कर सकें। **अधिक धन होने पर भी निर्धन व्यक्ति के परिश्रम का मोल करना सबसे बड़ी मानसिक दरिद्रता है।**

तप- तप का अर्थ केवल हिमालय की गुफाओं में जाकर बैठना नहीं है। श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि अपने निर्धारित नियमों और कर्त्तव्यों के पालन हेतु स्वेच्छा से कष्ट सहन करना ही वास्तविक तप है। प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए कष्टों को सहना ही तप है। एकादशी के व्रत का पालन प्रसन्नता पूर्वक करना तप है। जीवन में लिया गया एक छोटा सा सङ्कल्प भी तप बन जाता है। जैसे- "मैं प्रतिदिन चालीस मिनट गीता की कक्षा अवश्य करूँगा।" अब यदि किसी दिन आलस्य आए या अन्य कोई बाधा हो, फिर भी उस नियम पर अडिग रहना एक बड़ी तपस्या है। यदि किसी ने नियम लिया है कि "मैं बिना स्नान और पूजा के भोजन ग्रहण नहीं करूँगा" या "मैं अपनी माला का जप कभी नहीं छोड़ूँगा," तो इन नियमों के निर्वाह में होने वाला सङ्घर्ष ही तप है।

इस प्रकार श्रीभगवान् ने हमारे अन्तर्मन के बीस भाव बताए हैं।

10.6

महर्षयः(स्) सप्त पूर्वे,चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता, येषां(म्) लोक इमाः(फ्) प्रजाः॥10.6॥

सात महर्षि (और) उनसे भी पहले होने वाले चार सनकादि तथा चौदह मनु (ये सब-के-सब) (मेरे) मन से पैदा हुए हैं (और) मुझमें भाव (श्रद्धाभक्ति) रखने वाले हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है।

विवेचन- श्रीभगवान् ने यहाँ कुल पच्चीस बाह्य विभूतियों का वर्णन किया है-
चार सनकादि ऋषि- सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार।

सात महर्षि- वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भारद्वाज।

कल्प-भेद के अनुसार इन सप्तर्षियों के नाम में परिवर्तन मिलता है। प्रत्येक मन्वन्तर (काल) में अलग-अलग सप्तर्षि होते हैं। वर्तमान काल के सप्तर्षि यही हैं। संसार की उत्पत्ति और उसमें धर्म की मर्यादा स्थापित करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं पर है।

चौदह मनु- ब्रह्मा जी के एक दिन में चौदह मनु होते हैं, जो सृष्टि का शासन करते हैं। वर्तमान में हम सातवें मनु, वैवस्वत मनु के काल में रह रहे हैं। अभी ब्रह्मा जी का आधा दिन व्यतीत हुआ है। संसार की सम्पूर्ण प्रजा इन्हीं की सन्तान है।

10.7

एतां(म्) विभूतिं(म्) योगं(ञ्) च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन,युज्यते नात्र संशयः॥10.7॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूति को और योग (सामर्थ्य) को तत्त्व से जानता है अर्थात् दृढ़ता पूर्वक मानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है; इसमें (कुछ भी) संशय नहीं है।

विवेचन- श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय के सातवें श्लोक में श्रीभगवान् एक अनूठा सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यह सूत्र गीता जी के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। श्रीभगवान् कहते हैं- "हे अर्जुन! जो पुरुष मेरी इस परम ऐश्वर्यमयी विभूति और योग-शक्ति को तत्त्व से जानता है, वह अविकम्प (निश्चल) भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।"

यहाँ 'अविकम्पेन' शब्द जीवन बदलने वाला सूत्र है। विकम्प का अर्थ है- हृदय की उथल-पुथल। जब परिस्थितियाँ हमारे मन के

अनुकूल नहीं होतीं, तो हमारा 'मूड' खराब हो जाता है, चेहरे की मुस्कान गायब हो जाती है और हम भीतर से अशान्त हो जाते हैं। हम इतने असुरक्षित हो गए हैं कि हमने अपनी प्रसन्नता की चाबी दूसरों के हाथ में दे दी है। कोई हमें 'आण्टी' या 'अङ्कल' कह दे, तो हम बिखर जाते हैं।

प्रतिक्रियाशील जीवन- लोग जानते हैं कि हमें क्या बोलने पर हम "उछलने" लगेंगे। उन्होंने बटन दबाया और हम चिल्लाने लगे। यह मानसिक कमजोरी ही 'विकम्प' है।

स्वामी जी एक बड़ा सुन्दर उदाहरण देते हैं- हवाई अड्डे पर एक फ्लाइट चार घण्टे विलम्ब से थी। तीन सौ यात्री थे, घटना सबके लिए समान थी, पर प्रतिक्रियाएँ भिन्न थीं - कुछ यात्री काउन्टर पर लड़ रहे थे, कुछ सरकार और व्यवस्था को कोस रहे थे, कुछ शान्ति से पुस्तक पढ़ रहे थे। स्वामी जी स्वयं अपनी माला कर रहे थे। उन्हें प्रसन्नता थी कि आज चार घण्टे अतिरिक्त जप का अवसर मिल गया।

घटना दु:खदायी नहीं होती, उस घटना के प्रति हमारा 'विकम्प' (रिएक्शन) हमें दु:खी करता है। 'अविकम्पेन योग' का अर्थ है- परिस्थिति कैसी भी हो, मैं अपने भीतर कम्पन नहीं आने दूँगा। अपेक्षा करना बुरा नहीं है, पर उस अपेक्षा से 'चिपक' जाना बुरा है। यदि मेरे मन की नहीं हुई, तो भी मैं शान्त रहूँगा। जब विश्व के शक्तिशाली शासकों, जैसे ट्रम्प या अन्य के मन की हर बात पूरी नहीं होती, तो हम कौन हैं? जब वे पूरी दुनिया को डराकर भी सब कुछ अपने पक्ष में नहीं कर पाते तो हमें यह भ्रम क्यों है कि सब हमारे अनुसार हो?

यदि हमने यह एक सूत्र पकड़ लिया कि "चाहे जो हो जाए, मैं स्वयं को विचलित नहीं होने दूँगा; मैं शान्त रहूँगा, तो हमारा जीवन बदल जाएगा। गड़बड़ बाहर नहीं, केवल हमारे सोच में है। सोच ठीक, तो सब ठीक। जो इस सत्य को जान लेता है, वह 'अविकम्प योग' में स्थित होकर साक्षात् परमात्मा से जुड़ जाता है।

10.8

अहं(म्) सर्वस्य प्रभवो, मत्तः(स्) सर्वं(म्) प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां(म्), बुधा भावसमन्विताः॥10.8॥

मैं संसारमात्र का प्रभव (मूल कारण) हूँ, (और) मुझसे ही सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है - ऐसा मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं - सब प्रकार से मेरे ही शरण होते हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझे से ही सब जगत चेष्टा करता है। इस प्रकार समझकर भाव समन्विता, श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान भक्तजन मुझ परमेश्वर का भजन करते हैं ।

10.9

मच्चित्ता मद्गतप्राणा,बोधयन्तः(फ्) परस्परम्।
कथयन्तश्च मां(न्) नित्यं(न्), तुष्यन्ति च रमन्ति च॥10.9॥

मुझमें चित्तवाले, मुझमें प्राणों को अर्पण करने वाले (भक्तजन) आपस में (मेरे गुण, प्रभाव आदि को) जानते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें प्रेम करते हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि वे भक्त जो निरन्तर मुझमें मन लगाने वाले हैं और अपने प्राणों को मुझमें ही अर्पण कर चुके हैं, वे मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुणों सहित मेरा कथन करते हुए निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही रमण करते हैं। साधना का मुख्य पक्ष सन्त और साधकों का सान्निध्य है; हमें अच्छे सन्तों को सुनना चाहिए और अच्छे साधकों के साथ बैठना चाहिए। यदि हम अपने समय का लेखा-जोखा देखें, तो आठ घण्टे निद्रा और भोजन आदि में व्यतीत हो जाते हैं, परन्तु शेष सोलह घण्टे हमने किनके साथ गुजारे, यह विचारणीय है। उन सोलह घण्टों की जागृत

अवस्था में हमने चलचित्रों या दूरदर्शन पर क्या देखा, अन्तर्जाल पर क्या पढ़ा अथवा किन लोगों के सङ्ग में समय बिताया, वही हमारे चित्त का निर्माण करता है।

श्रीभगवान् ने कहा है कि जो सन्त, साधक और सिद्ध जन हैं, जो श्रीभगवान् के नाम का स्मरण और चर्चा करते हैं, उनके साथ रहकर अपनी टोली बनानी चाहिए। 'लर्न गीता' के माध्यम से श्रीमद्भगवद्गीता सीखने से भी बड़ी उपलब्धि यह है कि यहाँ हजारों ऐसे लोगों का सान्निध्य प्राप्त होता है जो सात्त्विक भावों से भरे हुए हैं। ऐसे साधकों के भावों के संसर्ग से ही हमारे मन का सत्त्व जागृत होता है और यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

साधना का मूल भाव यही है कि विवाद त्याग कर सन्तों और साधकों का सान्निध्य करें और अपना चित्त श्रीभगवान् में लगाएँ। इसकी फलश्रुति बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि 'तुष्यन्ति च रमन्ति च', अर्थात् फिर तुम्हारा मन मुझमें ही रमण करेगा, तुम प्रसन्न रहोगे और अत्यधिक आनन्द प्राप्त करोगे।

10.10

तेषां(म्) सततयुक्तानां(म्), भजतां(म्) प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं(न्) तं(म्), येन मामुपयान्ति ते॥10.10॥

उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए (और) प्रेमपूर्वक (मेरा) भजन करने वाले भक्तों को (मैं) वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि जो निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन भक्तों को मैं स्वयं वह 'बुद्धियोग' अर्थात् तत्त्वज्ञान प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं। श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ 'सतत' शब्द का बड़ा महत्त्व है; यदि हम दिन में केवल पन्द्रह मिनट पूजा करके शेष समय संसार में डूबे रहें, तो वह सतत अवस्था नहीं है। सतत युक्त होने का अर्थ है कि पूरे दिन श्रीभगवान् की चर्चा हमारे मन में चलती रहे। चाहे श्रीभगवान् का नाम हो, उनकी लीलाएँ हों या श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक हों, जब वे निरन्तर मन में प्रवाहित होते हैं, तब हम 'सततयुक्तानां' कहलाते हैं, परन्तु यह साधना केवल यन्त्रवत नहीं होनी चाहिए।

श्रीभगवान् कहते हैं कि इसे '**प्रीतिपूर्वक**' करो, अर्थात् अत्यधिक प्रेम और आनन्द के साथ करो। जो साधक इस प्रकार प्रेम में डूबकर भजन करता है, उसे ज्ञान खोजने कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता। श्रीभगवान् स्वयं उसके भीतर प्रकट होकर उसे वह विवेक और बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे उसके जीवन का अज्ञान नष्ट हो जाता है। श्रीभगवान् स्वयं दायित्व लेते हैं कि वे अपने भक्त को उस मार्ग पर ले जाएँगे जो सीधा उन तक पहुँचता है।

10.11

तेषामेवानुकम्पार्थम्,अहमज्ञानजं(न्) तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो, ज्ञानदीपेन भास्वता॥10.11॥

उन भक्तों पर कृपा करने के लिये ही उनके स्वरूप (होने पन) में रहने वाला मैं (उनके) अज्ञानजन्य अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! उन भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए उनके अन्तःकरण में स्थित होकर, मैं स्वयं उनके अज्ञान जनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञान के द्वारा नष्ट कर देता हूँ। श्रीभगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि यह उनकी अपनी जिम्मेदारी है और वे इसे स्वयं पूर्ण करते हैं।

इसे समझने हेतु भक्त प्रह्लाद जी और हिरण्यकशिपु का प्रसङ्ग अत्यन्त उपयुक्त है। हिरण्यकशिपु के अनेक अत्याचारों के उपरान्त भी प्रह्लाद जी की भक्ति और अधिक दृढ़ होती गई, परन्तु अन्ततः एक क्षण ऐसा आया जब प्रह्लाद जी विचलित होने

लगे। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद जी को एक खम्भे से बाँधकर उसमें अग्नि लगा दी और पूछा- "बता, क्या इस जलते खम्भे में भी तेरा ईश्वर है?" जब वह खम्भा धू-धू कर जलने लगा, तब बालक प्रह्लाद के मन में एक क्षण के लिए संशय उत्पन्न हुआ कि "क्या इस भीषण ज्वाला के बीच भी श्रीभगवान् विद्यमान हैं? क्या मुझे 'हाँ' कहना चाहिए?"

प्रह्लाद जी की भक्ति प्रगाढ़, सतत और प्रीतिपूर्वक थी, इसलिए श्रीभगवान् ने तत्काल उनके संशय का निवारण किया। श्रीभगवान् ने उस धधकते हुए खम्भे पर एक नन्हीं चींटी के रूप में दर्शन दिए। प्रह्लाद जी ने देखा कि उस भीषण ताप में भी एक कोमल चींटी सहजता से चल रही है। उन्हें तुरन्त बोध हो गया- "अरे ठाकुर! आप इस जलते खम्भे पर भी विराजमान हैं!" प्रह्लाद जी का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा- "हाँ, इस खम्भे में भी श्रीभगवान् हैं, इस खम्भे में भी नारायण हैं!" श्रीभगवान् ने इस प्रकार अपने भक्त के संशय को हर लिया और उनकी भक्ति को पुनः स्थिर किया। जो सतत और प्रीतिपूर्वक भक्ति करता है,

श्रीभगवान् स्वयं उसके अज्ञान का नाश कर उसे तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं।

हरि शरणम् हरि शरणम् हरि शरणम्।
हरि शरणौ हरि शरणौ हरि शरणौ।

हरिनाम सङ्कीर्तन के साथ आज का विस्तृत, ज्ञानपूर्ण विवेचन सम्पन्न हुआ। इसके पश्चात प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- विद्यासागर भैया
प्रश्न- गीताजी का वाचन अधिक फलदायक है अथवा श्रवण करना?
उत्तर- दोनों के अलग-अलग परिणाम होते हैं। गीताजी के दो लाभ हैं। एक मन्त्रात्मक लाभ है तथा एक अर्थात्मक लाभ है।

मन्त्रात्मक लाभ मन्त्र जपने से होता है। मन्त्रों का श्रवण करना और मन्त्रों को जपना या बोलना- उससे मन्त्र का लाभ मिलता है तथा श्रवण करना, उसके अर्थ को समझना, उस अर्थ को जीवन में लाना- यह एक अलग लाभ हुआ।

इस प्रकार, ये दोनों अलग-अलग लाभ हैं और दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक भी लाभ छोड़ना नहीं चाहिए। गीताजी के मन्त्रों को जप कर मन्त्र का लाभ लेना और अर्थ को सुनकर उसको जीवन में अपनाना, तभी हमें जीवन में गीताजी का पूर्ण लाभ मिलता है।

प्रश्नकर्ता- देवयन्ती दीदी
प्रश्न- बहुत पहले किसी ब्राह्मण ने हमें बताया था कि गायत्री-मन्त्र बोलकर सूर्यदेव को अर्घ्य देना चाहिए परन्तु अब आपके मुख से मैंने सुना कि गायत्री-मन्त्र नहीं बोलते हैं। यह सूर्यदेव को अर्घ्य देने का मन्त्र नहीं है।
उत्तर- वैसे तो सूर्यदेव को अर्घ्य देने के बहुत सारे मन्त्र हैं, परन्तु परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन स्वामी रामसुखदास जी महाराज ने यह मन्त्र बताया था-

"**एहि सूर्य सहस्त्रांशो तेजोराशे जगत्पते ! अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥**"

यह सूर्यदेव को अर्घ्य देने का सर्वोत्तम मन्त्र है।

जिनका यज्ञोपवीत हो जाता है, वे गायत्री मन्त्र का जप सूर्यदेव को अर्घ्य देने के बाद करते हैं।

प्रश्नकर्ता- अलका दीदी
प्रश्न- बारहवें अध्याय में श्रीभगवान् ने बोला है कि यदि आप मुझे अत्यन्त भक्ति-भाव से भजते हैं, प्रेम से भजते हैं तो मैं आपको अवश्य प्राप्त होता हूँ, किन्तु उसके बाद यह भी बोला है कि यदि आप यह नहीं कर पाते हैं तो अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और अन्त में बताया कि कर्मों का त्याग सर्वश्रेष्ठ है।

उत्तर- ऐसा नहीं है। यहाँ पर उनकी तुलना नहीं की गई है। श्रीभगवान् ने उसकी सूक्ष्मता बतायी है।

जब हम किसी कर्म को करते हैं तो सामान्य रूप से इन्द्रियों से करते हैं। हम पूजा कर रहे हैं, भजन कर रहे हैं, कीर्तन कर रहे हैं तो हमारे मुख से, हमारी आँखों से, हमारे मन को उसमें समर्पित करके करते हैं तो यह सबसे आरम्भ की बात है, लेकिन आप ध्यान करने बैठते हैं तो ध्यान में बुद्धि को साधना होता है। इस प्रकार इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है।

अब आप ध्यान करने बैठे, श्रीभगवान् ने पहले ज्ञान कहा तो ज्ञान बुद्धि का विषय है तथा ध्यान चित्त का विषय है। इस प्रकार मन, ज्ञानेन्द्रियों से सूक्ष्म तथा मन से सूक्ष्म बुद्धि एवं बुद्धि से सूक्ष्म चित्त होता है। ध्यान चित्त से होता है इसलिए अपने चित्त को एकाग्र करना है।

फिर चित्त से भी सूक्ष्म अहम् है। अहम् का अर्थ है अपने होने का भाव। "मैं कर्म को करने वाला हूँ। मैंने कर्म किया। मैं यह नहीं करूँगा।" यह निश्चय करने वाला अहम् है। यह सबसे सूक्ष्म है, तो सब कर्मों के फल का त्याग अहम् करेगा।

इस प्रकार श्रीभगवान् वहाँ पर उसकी सूक्ष्मता बता रहे हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तुम भजन-कीर्तन छोड़कर ज्ञान प्राप्त करो, ज्ञान छोड़कर ध्यान करो, ध्यान छोड़कर कर्म करो।

तुम किसी भी साधन से करोगे तो श्रीभगवान् तो मिलने वाले ही हैं। श्रीभगवान् ने कहा कि साधनों में तुम मुझे मत ढूँढो, तुम उसके परिणामों में ढूँढो।

श्रीभगवान् ने उस श्लोक के बाद भक्ति के लक्षण बताये कि तुम इसमें नहीं अटक जाना कि इससे भक्ति करो, उससे भक्ति करो, परन्तु तुम अद्वेष्ट हुए क्या? तुम्हारे अन्दर से द्वेष-भाव गया कि नहीं? तुम्हारे अन्दर सबके प्रति मित्रता और करुणा का भाव आया कि नहीं? तुम अपने सुख-दुःख में सम रहना सीख रहे हो कि नहीं? तुम कीर्तन कर रहे हो या ध्यान कर रहे हो या तुम ज्ञानमार्ग पर हो कि तुम फल का त्याग कर रहे हो? तुम जिस भी मार्ग पर चल रहे हो, उसका परिणाम तुम्हारे जीवन में क्या घट रहा है? इस प्रकार श्रीभगवान् का तात्पर्य परिणाम से है। गीताजी के कृष्ण, मार्ग की चिन्ता नहीं करते। वे कह रहे हैं कि तुम पहुँचे कहाँ? मेरा भक्त बनना है तो द्वेष-भाव हटाना पड़ेगा। गीताजी के कृष्ण मार्ग के आग्रही नहीं हैं अपितु वे उसके गन्तव्य के आग्रही हैं।

प्रश्नकर्ता- रमा दीदी
प्रश्न- मोह तथा क्रोध पर नियन्त्रण कैसे करें?
उत्तर- यह हम सबकी समस्या है। निरन्तर अभ्यास करने से धीरे-धीरे हम नियन्त्रण करना सीख जाते हैं। जैसे, एक गन्दा गिलास है, यदि हम इसे प्रतिदिन साफ करेंगे तो एक दिन यह निश्चित रूप से साफ हो जाएगा। हो सकता है कि एक वर्ष लग जाए या हो सकता है दो वर्ष लग जाएँ किन्तु यदि हम इस गिलास को साफ करना छोड़ेंगे नहीं तो कभी तो ऐसा समय आएगा जब यह गिलास पूरा साफ हो जाएगा।

ऐसे ही हमारा मन है। उसमें करोड़ों जन्मों के पाप-पुण्य के संस्कार चिपके हुए हैं। एक बार गीताजी सुनने से वे संस्कार छूट नहीं जाते। वे कामनाएँ, वे वासनाएँ समाप्त नहीं होतीं किन्तु बार-बार श्रीभगवान् के नाम का जप करते हैं, गीताजी पढ़ते हैं, गीताजी के मन्त्र हमारे मन में प्रवेश करते हैं तो वे मन्त्र इन पापों का शमन करते हैं और धीरे-धीरे सफाई होते-होते हमारा मन उज्जवल होता है, इसलिए सत्कर्म करते रहें तथा दुष्कर्म बन्द कर दें। जानबूझ कर किसी के साथ कपट नहीं करें तो धीरे-धीरे गिलास का गन्दा पानी साफ होता जाएगा और एक समय आएगा कि गिलास में केवल साफ पानी बचेगा।

इसमें समय लगता है और धैर्यपूर्वक इस साधना को करना है।

प्रश्नकर्ता- अलका दीदी
प्रश्न- क्या आज के परिवेश में काम, मोह और क्रोध जैसे विकारों का त्याग किया जा सकता है?
उत्तर- गीताजी में ऐसा कहीं नहीं कहा गया है कि काम और क्रोध का पूर्ण त्याग कर दिया जाए। श्रीभगवान् ने दसवें अध्याय में कामना को भी अपनी एक विभूति बताया है। "शास्त्रयुक्त काम मैं हूँ लेकिन न्यायपूर्वक, शास्त्रयुक्त काम का उपभोग करो।" हम क्या करते हैं? हम कामना के वेग में बह जाते हैं। आवश्यकता इनका त्याग करने की नहीं, बल्कि इन पर नियन्त्रण करना सीखने की है। इन्हें वेग में बहने देना उचित नहीं है। सभी विकारों का वेग घातक होता है, इसलिए उन पर नियन्त्रण आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, आपने किसी को उसके भले के लिए डाँटा तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं लेकिन डाँटते-डाँटते आप स्वयं पर नियन्त्रण खो बैठे, आँखें लाल हो गयीं, मुँह से पूरा वाक्य भी नहीं निकल पा रहा। धड़कन बढ़ गयी, रक्तचाप बढ़ गया।

अब यह क्रोध उसका नाश नहीं कर रहा है। यह आपका नाश कर रहा है जबकि सामने वाले को तो कोई अन्तर ही नहीं पड़ रहा है, इसलिए इन सभी विकारों का उपयोग समत्व-भाव से करना चाहिए। यदि विकार बिल्कुल ही अनुपयोगी होते तो श्रीभगवान् ने इन्हें बनाया ही क्यों होता?

श्रीभगवान् ने ही कामना, क्रोध, अहम तथा मोह बनाए हैं किन्तु इनका उपयोग समत्व भाव से करो। ये श्रीभगवान् के हैं- यह मानकर करो- "मेरा अधिकार है", यह मानकर मत करो, नहीं तो उसमें फँस जाओगे, अटक जाओगे।

"मुझे यह चाहिए- येन केन प्रकारेण, कैसे भी मुझे चाहिए" यह भाव रहेगा तो अन्यायपूर्वक धन अर्जित करोगे। अन्यायपूर्वक उस कामना को पूरा करना चाहोगे तो उसमें अटक जाओगे। उससे नाश होगा।

क्रोध नाश नहीं करता। आप बच्चे को डाँटें और गर्दन घुमाकर मुस्कुरा सकें तो आपकी डाँट आभूषण है, आपका क्रोध आभूषण है। इसको धारणा करिए।

गीताजी के दूसरे अध्याय के सैंतालीसवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** अर्थात् मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में नहीं।

उदाहरण के रूप में कोई भी कृषक यह निश्चित रूप से नहीं बता सकता कि फसल कितनी होगी या अच्छी होगी अथवा खराब। इसी प्रकार कोई भी विद्यार्थी परीक्षा देने के उपरान्त यह नहीं बता सकता कि उसे कितने अङ्क प्राप्त होंगे। व्यापारी भी यह निश्चित नहीं कर सकता कि व्यापार में कितना लाभ होगा। फल हमारे नियन्त्रण में नहीं है।

जो वस्तु या परिणाम हमारे नियन्त्रण में नहीं है, उसकी चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं। इसलिए **"योगः कर्मसु कौशलम्"** अर्थात् कर्म करने में कुशल बनो और अपना ध्यान केवल कर्म पर ही केन्द्रित रखो।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||